



णायकुमार चरिउ में वर्णित भारतीय भाषा एवं अपभ्रंश भाषा का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

रजनीश भारती

शोध छात्र, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

डॉ० रामधनी राम

सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, भोजपुर, बिहार

Article Info: (Received- 13/05/2026, Accept- 05/06/2026, Published- 10/07/2026)

DOI- 10.70650/rvimj.2026v3i7002

भारतीय आर्य भाषा के विकास के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि भारत में आने वाले आर्यों की भाषा से इसका सम्बन्ध है हालांकि विद्वानों में इसके सम्बन्ध में मतभेद है। बहुत से विद्वानों का कहना है कि भारत में आर्य कई दलों में आये। आने के समय के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। मोटे तौर पर भाषा की दृष्टि से ई.पू. के लगभग आर्य आ चुके थे। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार भारतीय आर्य भाषा का इतिहास 1500 ई.पू. से आरम्भ होता है। भाषा के विकास क्रम को तीन भागों में बाँटा गया है¹—

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा— (समय 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक),
2. मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा— (समय 500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक),
3. आधुनिक भारतीय आर्य भाषा— (समय 1000 ई.पू. 20 वीं सदी तक)

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा—

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के दो रूप हमें प्राप्त होते हैं— (क) वैदिक संस्कृत और (ख) लौकिक संस्कृत। ये दोनों संस्कृत के ही नाम से जाने जाते हैं। हम यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(क) वैदिक संस्कृत—

हम वैदिक संस्कृत को तीन भागों में बाँट सकते हैं— ऋचाएँ, ब्राह्मण और सूत्र।²

वैदिक ऋचाओं की भाषा भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में किसी समय बोलचाल की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। उल्लेखनीय है कि इसका सम्बन्ध केवल धार्मिक कृत्यों से है। यह निश्चित करना कठिन है कि इन ऋचाओं की रचना किस प्रकार हुई। ये कैसे सुरक्षित रखी गई और इन्हें अंतिम रूप में किसी प्रकार एकत्र किया गया था। यह पूर्णतया निश्चित है कि शीघ्र ही इन्होंने पवित्र रूप ग्रहण कर लिया और सावधानी से इनका प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के जिन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में गहरा मनन एवं चिन्तन किया, उनका यह दृढ़तम है कि ये ऋचाएँ तीसरी शताब्दी तक मौखिक रूप से सुरक्षित रहीं।³ 'ब्राह्मण' एवं 'सूत्र' युगों के बीच कोई अन्तराल नहीं है इसलिए सूत्रों की भाषा अपने मूलार्थ में सुरक्षित है तथा प्राचीन वैदिक भाषा की कतिपय विशेषताएँ पाणिनीय संस्कृत से भिन्न नहीं हैं।

संस्कृत का सर्वोत्तम यह रूप वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। वैदिक संस्कृत के जो रूप आज उपलब्ध हैं, उन्हें उस काल की बोलचाल का रूप नहीं माना जा सकता। तत्कालीन बोलचाल की भाषा के वे साहित्यिक रूप माना है।

(ख) लौकिक संस्कृत –

लौकिक संस्कृत के अन्य नाम भी हैं— ‘संस्कृत’, ‘क्लासिकल संस्कृत’ ‘देव भाषा’ आदि। यह केवल काव्य रूप में ही मिलता है। इस काव्य का सम्बन्ध भी केवल लौकिक (धार्मिक) कृत्यों से है। लौकिक संस्कृत के तीन रूप हमें प्राप्त हैं— उत्तरी, मध्यदेशीय और पूर्वी। लौकिक संस्कृत का आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वहीं प्रामाणिक मानी जाती है। लौकिक या क्लासिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा नहीं माना, किन्तु डॉ० भण्डारकर तथा गुणें ने इसका खण्डन कर यह बहुत पहले दिखला दिया कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी।⁴ बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा के विरुद्ध परम्परागत कम और विकसित संस्कृत अधिक होती है। विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में रखने के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की थी। साहित्य में संस्कृत का प्रयोग महाभारत—रामायण से लेकर शाहजहाँ के काल तक हुआ है और कुछ अंशों में तो अब भी हो रहा है। भारत की सभी भाषाओं में इसमें अणगणित शब्द लिए हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का काल आता है। साधारणतः इस भाषा काल को तीन भागों में विभाजित किया जाता है— प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल एवं तृतीय प्राकृत काल। प्रथम प्राकृत काल की प्रमुख भाषा पाली है। कुछ लोग पांचवी या छठी सदी ईस्वी पूर्व से और कुछ लोग दूसरी सदी ईस्वी तक इसको मानते हैं। द्वितीय प्राकृत काल प्राकृत भाषा का युग है। इसमें शिलालेख इत्यादि का वर्णन है। तृतीय प्राकृत काल के संबंध में यह वर्णन किया गया है कि भारतीय आर्य भाषा के तीसरे चरण में अपभ्रंश भाषा का प्रारम्भ होता है। अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख वाक्य प्रदीपक के लेखक भर्तृहरि ने पतंजलि के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए किया है—

“शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुज्यक्षिते।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशनम्॥”

वार्तिका— शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशं स्वतंत्रः कश्चिदित्ये। सर्वस्यैव हि साधुरैवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रुदितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या। प्रमादिभिर्वा गाढ्यादयस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।⁵

संग्रहकार व्याडि का उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है।⁶ इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार का समय 2री शती ई.पूर्व से पहले था। अपभ्रंश शब्द का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में इस प्रकार मिलता है—

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गायी, गोणी, गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।⁷ पतंजलि ने उदाहरण देकर अपभ्रंश सम्बन्धि अपना विचार और भी स्पष्ट कर दिया है। प्राकृत भाषा का व्याकरणाकार घंड और हेमचन्द्र ने अपने-अपने व्याकरणों में उक्त रूपों में से कुछ प्राकृत के सामान्य रूप स्वीकार किये हैं। जैसे—

गोर्गाविः⁸

“गोणादयः गोः, गोणी, गावी, गावः, गावीओ”⁹

उपर्युक्त उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि और उनके पूर्व के आचार्य उन सब शब्दों को अपभ्रंश समझते थे, जो शिष्ट सम्मत संस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट होते थे। इस प्रकार भाष्यकार पतंजलि से लेकर आचार्य हेमचन्द्र सूरि तक सभी संस्कृत वैयाकरणों में किसी-न-किसी रूप में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। किन्तु भर्तृहरि के उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश का प्राचीनता निश्चय ही अधिक संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वयं संग्रहकार का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। परन्तु इतना तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इसी पूर्व की 2री शताब्दी से भी पहले अपभ्रंश का प्रयोग अवश्य होता था। इसका प्रमाण पतंजलि का महाभाष्य है, जिसमें सर्व प्रथम स्पष्ट रूप से अपभ्रंश शब्द अपाणिनीय शब्द रूपों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश ही एक पूर्ण साहित्यिक भाषा, छन्द, व्याकरण शास्त्र आदि से समृद्ध हो चुकी थी। आगे चलकर हम पाते हैं कि व्याकरण में अपभ्रंश शब्द का अर्थ रुढ़ हो गया है। दण्डी (7वीं शती ईस्वी) ने इसी परम्परा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश कहा जाता है।¹⁰ आचार्य भरत ने अपने ‘नाट्यशास्त्र’ में संस्कृत के अनन्तर प्राकृत पाठ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्राकृत तीन प्रकार की होती है— (1) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का प्रयोग हो अर्थात् तत्सम्, (2) संस्कृत के विकृत शब्दों का प्रयोग हो अर्थात् तद्भव और (3) जिसमें देशी भाषा के शब्दों का प्रयोग हो अर्थात् देशी।¹¹

देशी शब्द से उनका अभिप्राय अपभ्रंश से ही प्रतीत होता है। भरतमुनि ने समान शब्द के अतिरिक्त जिस विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है, वह यही अपभ्रंश है। भर्तृहरि (5वीं शती) ने संस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश कहे

जाने का उल्लेख किया है।¹² महाभाष्य के टीकाकार केयट (10वीं शती ई०) ने भी उन शब्दों को अपभ्रंश कहा है जो साधु शब्दों के समान अर्थ में लोक में प्रयुक्त होते हैं।¹³ इसी तरह अन्य संस्कृत वैयाकरणों का भी मत उद्धृत किया जा सकता है। इनके व्याकरण-शास्त्र में प्रचलित अपभ्रंश शब्द की उक्त अर्थ परम्परा सहज ही पुष्ट होती है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी अपभ्रंश को उकारबहुला के रूप में स्वीकार किया गया है।¹⁴ अतः भरत के उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में यद्यपि अपभ्रंश नाम की कोई भाषा विकसित नहीं थी, किन्तु बीज रूप में वह अवश्य ही वर्तमान थी। यही कारण है कि भरतमुनि ने 'मोरल्लउ रचन्तउ। महागमें रन्मन्तउ।।' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।¹⁵

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इसी पूर्व द्वितीय शताब्दी में तद्भव शब्द के रूप में तत्कालीन भाषाओं में जो प्रगतिशील तथ्य समाहित होने प्रारम्भ हुए थे, विद्वानों की अभिरुचि के प्रतिकूल होने के कारण वे अपभ्रंश संज्ञा से सम्बोधित किये गये। इस प्रकार प्रारम्भ में अपभ्रंश संज्ञा का व्यवहार शब्दों के लिए ही हुआ, भाषा के रूप में नहीं।

चण्ड ने प्राकृतलक्षणम् में गो के प्राकृत रूप "गावी" का उल्लेख किया है।¹⁶ हेमचन्द्र ने भी गौणी आदि प्राकृत रूपों का समर्थन किया है।¹⁷ श्वेताम्बर जैनो के अर्धमागधी प्राकृत में लिखित ग्रन्थों में भी गावी और गोणी रूपों को लक्षित किया गया है।¹⁸ बहुत सम्भव है कि गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्द मूलतः गोलक आमीर जाति की बोलियों में प्रयुक्त होते रहे हो। दण्डी का यह कथन है कि काव्यों में अमीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है।¹⁹ दण्डी के इसी कथन से यह भी अनुमान किया जाता है कि भरतमुनि ने जिस अभिरोक्ति का नाम लिया है, वह अपभ्रंश ही थी।²⁰ अपभ्रंश भाषा के उत्कर्ष में आभीर, गुर्जर जातियों का महत्वपूर्ण योग माना जाता है। महाभारत में ईस्वी पूर्व 2री शताब्दी में भारत में आभीर जाति के पाये जाने का उल्लेख मिलता है। उसमें नकुल के प्रतीची विजय प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहने वाला बताया गया है।²¹ शल्य पर्व में बलदेव की तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में बताया गया कि राजा ने उस विनसन में प्रवेश किया जहाँ शुद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई।²² अर्जुन वृष्णियों की विधवाओं को लेकर जब द्वारिका जा रहे थे, उस समय पन्धनद में प्रवेश करते समय महिलाओं को आभीरों ने छीन लिया था।²³ इसके अतिरिक्त काठियावाड़ा में प्राप्त सन् 181 ई. के महाक्षत्रप रुद्र दमन के अभिलेख तथा नासिक के 300 ई. के अभिलेख में भी आभीरों का उल्लेख हुआ है।²⁴ ईस्वी 560 के समुद्र गुप्त के प्रयाग वाले लौह स्तम्भ लेख के अनुसार आभीर जाति उस समय गुप्त सम्राज्य की सीमा पर राजस्थान, मालवा, दक्षिण-पश्चिम एवं पश्चिमी प्रदेशों में डटी हुई थी। पुराणों के अनुसार आन्ध्रभृत्यों के बाद दकन आभीरों के ही हाथ में आया और छठी शताब्दी के बाद से निकल गया। जार्ज इलिएट के अनुसार 8वीं शताब्दी में काठी जाति के प्रवेश के समय गुजरात का अधिकांश भाग आभीरों के हाथ में था।²⁵ इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि ई.पू. की कुछ शताब्दी से लेकर 8वीं, 9वीं शताब्दी तक के समय में काठियावाड़, राजस्थान, गुजरात, खानदेश आदि प्रदेशों में दूर-दूर तक आधिपत्य रहा है।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आभीर जाति समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गयी थी। गुर्जर भी इसी के अंग थे। इसी प्रकार आभीर, गुर्जर, आर्य जातियों के प्रश्रय और प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों विशेष रूप से उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों में अपभ्रंश एक प्रिय भाषा बनने में समर्थ हुई।

इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी के काल में अपभ्रंश की विभिन्न विशेषताएँ तत्कालीन लोक भाषाओं के साथ-साथ चलती रही। इस समय तक विज्ञान वर्ग प्रायः संस्कृतेत्तर भाषा के लिए प्राकृत तथा संस्कृतेत्तर शब्दों के लिए अपभ्रंश का ही निर्देश करते थे। अपभ्रंश नाम की किसी पृथक भाषा का अस्तित्व अभी तक नहीं था। परन्तु "नाट्य-शास्त्र" से विदित होता है कि साहित्यिक अपभ्रंश की उकार-बहुला की विशेषता पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषाओं में अवश्य विद्यमान थी। किन्तु भरतमुनि ने छन्दों के उदाहरणों के लिए जो काव्यांश उद्धृत किये हैं, उनमें भी उकार के अतिरिक्त संज्ञा, सर्वनाम, स्वार्थिक प्रत्यय तुकान्त आदि अपभ्रंश की अन्य विशेषता प्राप्त होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि णायकुमार चरित में वर्णित भारतीय भाषा एवं अपभ्रंश भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसकी सामान्य प्रवृत्ति तत्कालीन समय के बोलचाल की भाषा से प्रभावित होती रही है और समयानुसार इसमें व्याकरण और साहित्य को आधार मानकर इसे सम्पूर्ण भी किया गया है।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The

publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

संदर्भ ग्रन्थों सूची—

1. भाषा विज्ञान, डॉ० भोलानाथ तिवारी, प्रकाशक, किताब महल, इलाहाबाद, 1951
2. मैक्समूलर और उदय नारायण तिवारी, भाषा विज्ञान, पृ. 111
3. एफ. मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ एनिशिऐन्ट संस्कृत लिटरेचर, 1859
4. डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, पृ. 1265, षड्दशन समुच्चय टीका, पृ. 22
5. वाक्यपदीयम्, खण्ड— 1, कारिका— 148, भट्टहरि, साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1982
6. महाभाष्य, भाग— 1, पृ. 6 और 468, महर्षि पतंजलि, श्रमण विद्या संकाय, काशी, वाराणसी, 1956
7. महाभाष्य— 1/1/1, महर्षि पतंजलि, श्रमण विद्या संकाय, काशी, वाराणसी, 1956
8. प्राकृत लक्षण, 2/16, महर्षि चंड, सत्य विजय जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद— 1929
9. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, 8/2/174 पी.एल. वैद्य— 1970, एल.डी. इन्च्यूटी, गुजरात, अहमदाबाद— 1956
10. काव्य दर्शः 1/36, दण्डी, मोतीलाल बनारसीदास, 1980
11. नाट्यशास्त्रः 17/2—3, भरत मुनि, प्राच्य विद्या संस्थान, बड़ौदा, 1956
12. वाक्यपदीयम्: काण्ड — 1, कारिका — 148, भट्टहरि, साहित्य प्रकाशन, आगरा, 1982
13. अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुवाद्बसमानार्थवथ ।
14. नाट्यशास्त्रः 19/49—50, भरत मुनि, प्राच्य विद्या संस्थान, बड़ौदा, 1956
15. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ : पृ. 23, राजमणि शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली— 1985
16. प्राकृतलक्षणम्, आचार्य चंड, एशियाटिक सोसाइटी, कलकता, 202
17. सिद्धहेमशब्दानुशासनः 6—2/1/7, डॉ० नेमिचंद्र शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस ।
18. आचारांग — श्रुत, मधुकर मुनि, श्री आगमोदय प्रकाशन समिति, व्यायावर, राजस्थान— 1986
19. काव्यदर्शः 1/36, दण्डी, मोतीलाल बनारसीदास, 1980
20. नाट्यशास्त्रः 17/55, भरत मुनि, प्राच्य विद्या संस्थान, बड़ौदा, 1956
21. महाभारतः 2/32/10, महर्षि वेदव्याय महर्षि वेदव्याय, किशोरी मोहन गांगुली, कलकता— 1956
22. महाभारतः 9/37/9, महर्षि वेदव्याय, किशोरी मोहन गांगुली, कलकता— 1956
23. महाभारतः 16/9/44—47, महर्षि वेदव्याय, किशोरी मोहन गांगुली, कलकता— 1956
24. नायकुमार चरित, महाकवि पुष्पदंत, माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला, बम्बई, 1963
25. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया: 1/1/125 पाद टिप्पणी, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, सुपरिटेन्डेन्ट ऑफ गावर्मेन्ट प्रिन्टिंग इंडिया, कलकता— 1981.

Cite this Article

'रजनीश भारती; डॉ० रामधनी राम', "नायकुमार चरित में वर्णित भारतीय भाषा एवं अपभ्रंश भाषा का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन", Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal, ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:3, Issue:7, July 2026.

“Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under Creative Commons Attribution 4.0 (CC-BY), allowing others to use, share, modify, and distribute it with proper credit to the author.”